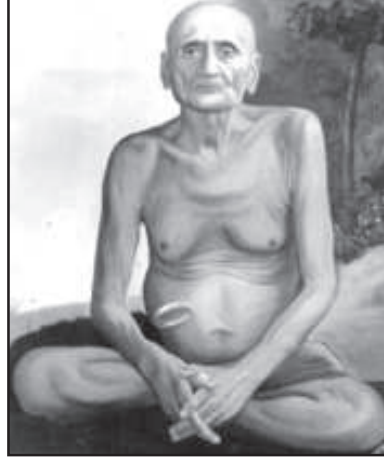


समाधि दिवस पर विशेष -

“जैन संस्कृति के संरक्षक आचार्य शान्तिसागर जी महाराज”

- परम पूज्य राष्ट्र गौरव आचार्यश्री वर्धमानसागरजी महाराज



दिगम्बर श्रमण परम्परा के उन्नायक
चारित्र चक्रवर्ती आचार्यश्री
शान्तिसागरजी महाराज

भगवान जिनेन्द्र का धर्मशासन सर्वोदय शासन है। यहाँ सबके उदय का अवसर है। जो भी इसकी शरण को प्राप्त होता है वही आत्मोन्नति के शिखर को प्राप्त करता है। आत्मप्रधान यह धर्म मोक्ष के उपायरूप है।

“सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः” के अनुसार मुक्ति का साक्षात् उपाय है रत्नत्रयधर्म की परिपूर्णता। जिस क्षण सम्यक्चारित्र (यथाख्यात चारित्र) पूर्ण होता है उसी क्षण मोक्ष होता है अर्थात् अनादिकालीन कर्मबन्धन टूट जाते हैं - छूट जाते हैं। द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप चतुष्टय मुक्तिलाभ में सहयोगी है। वर्तमान में चारों की युगपत् संधि नहीं है। अतः रत्नत्रयी पुरुषार्थ से अभी मुक्ति लाभ भले ही न हो, किन्तु संसार का किनारा निकट आ सकता है।

तत्त्वार्थसूत्र ग्रन्थरूप जिनागम में मारणान्तिकी “सल्लेखना जोषिता” इस सूत्र द्वारा कहा गया है कि मरण मे अन्त में अर्थात् मरण समय प्रीतिपूर्वक सल्लेखना करनी चाहिए। “सल्लेखना विधि से रत्नत्रयनिधि की रक्षा करते हुए जो समाधिमरण करता है वह निकट संसारी होता है, उसके 7-8 भव से अधिक संसार शेष नहीं रहता।

“सल्लेखना” अर्थात् अभ्यन्तर में कषायों की और बाह्य में शरीर की सम्यक् प्रकार से लेखना सल्लेखना है। यहां लेखना का अर्थ कृश करना है। सल्लेखना में कषायों को कृश करने के लिए ही शरीर को कृश किया जाता है। निष्प्रतिकार उपसर्ग के आने पर, दुर्भिक्ष होने पर, बुढ़ापा आने पर, निष्प्रतिकार रोग के आने पर, संयम धर्म की रक्षा हेतु सल्लेखना पूर्वक शरीर का त्याग किया जाता है। सल्लेखना संयम मंदिर या रत्नत्रयधर्मरूपी मंदिर पर कलशारोहण के समान है। शास्त्रों में कहा भी है - मरण के अन्त में होने वाली सल्लेखना ही मेरे चिरकाल से संचित धर्मरूप धन को परभव में साथ ले चलने में समर्थ है इस प्रकार भक्ति पूर्वक निरन्तर भावना भानी चाहिए, क्योंकि अन्त की आराधना से चिरकाल तक की हुई व्रताचरणरूप धर्मसाधना सफल हो जाती है। अन्तिम आराधना से क्षणभर में चिरकाल से संचित पाप नष्ट हो जाते हैं। (पु. सि. उ.)

बात सन् 1955 की है, बीसवीं सदी के प्रथमाचार्य परमपूज्य चारित्र चक्रवर्ती 108 श्री शान्तिसागरजी महाराज ने कुंथलगिरी सिद्धक्षेत्र की पावन धरा पर कुलभूषण - देशभूषण भगवान के पुनीत चरणों में अपनी उम्र के 84वें वर्ष में उपर्युक्त कारणों से सल्लेखना व्रत ग्रहण कर समाधिमरण की साधना सम्पन्न की थी।

सल्लेखना साधना के इस महायज्ञ की तैयारी में आचार्य श्री ने अपनी मुनिदीक्षा के लगभग 35 वर्ष होम दिये। गृहस्थ जीवन के 41 वर्षों में भी अनशन आदि तप करके मुनिदीक्षा हेतु पूर्ण तैयारी का पुरुषार्थ किया था। उन्होंने क्षुल्लक दीक्षा से प्रारम्भ किये अपने संयमी जीवन के 42 वर्षों में तो अनेक उपसर्ग-परीषहों को सहकर, जीतकर मृत्युंजयी बनने की पूर्ण तैयारी कर ली थी। मृत्यु योद्धा को जीतने के लिए मुनिजीवन में जिनागम कथित अनेक व्रतों को करके अनशन तप में लगभग 9938 उपवास किये। “जैन संस्कृति के संरक्षण” हेतु भी आपने 1105 दिन तक अन्न त्याग करके जैन मन्दिरों को

अवांछित तत्त्वों के प्रवेश से बचाया था तथा जैनधर्म को हिन्दू धर्म से पृथक् घोषित कराया था। मुम्बई हाईकोर्ट के प्रमुख जज श्री एम. सी. छागला का वह फैसला था।

जिस काल में आपने दीक्षा ग्रहण की थी उस समय दिगम्बर मुनि की चर्या से अनभिज्ञ श्रावकों के निमित्त से भी आपको शास्त्रानुसार मुनिचर्या का पालन करने में अनेक बाधाओं का सामना करना पड़ा। आपकी सौम्य परिणति और विरागता के कारण अतिभक्ति स्वरूप अपनी भूल से श्रावक आहार में 8 वर्ष तक दुध-चावल और पानी देते रहे, फिर भी बिना कुछ संकेत दिये आपने अवमौदर्य तपपूर्वक अपनी साधना से समता को ही वृद्धिंगत किया। लेशमात्र भी विपरिणाम श्रावकों के प्रति नहीं आया, उस समय अपने नाम के अनुरूप सदा शान्ति का ही आश्रय लिया।

रस परित्याग तप के द्वारा भी आपने शरीर को कृश किया, कषायें भी साथ-साथ कृश होती जा रही थीं। घी-तेल, नमक-शक्कर का तो आपका मुनिदीक्षा से पहले से ही त्याग था। आप आहार में मात्र दूध रस का ही उपयोग करते थे। हरी सब्जी और फल का भी त्याग था। वृत्ति परिसंख्यान तप में भी आपको अनेकानेक बार कष्टों का सामना करना पड़ा, किन्तु आपने उन्हें कभी कष्ट माना नहीं सदा ही धृतिकम्बल से अपनी आत्मरक्षा की। विविक्तशय्यासन और कायक्लेश तप के द्वारा भी आपने चंचल मन और नश्वर शरीर को अपने वश में किया। इस प्रकार बहिरंग तपों से शरीर सल्लेखना के साथ-साथ प्रायश्चित्त-विनय-वैयावृत्त्य-स्वाध्याय-ध्यान-व्युत्सर्गरूप अन्तरंग तपों से सतत कषाय सल्लेखना करते रहे। चारित्र के चक्रवर्ती आचार्यश्री ने रत्नत्रयधर्म अंगीकार करने के पश्चात् संयम-तप-त्याग से निरन्तर अपनी आत्मविशुद्धि को बढ़ाया। उनके विचारों में रत्नत्रय के साथ संयम-तप-त्याग का बड़ा महत्व था। उन्होंने कहा -

- ✦ जब तक जीव संयम-तप और त्याग की शरण नहीं लेगा तब तक उसका भविष्य आनन्दमय नहीं होगा”।
- ✦ सुखी बनने का प्रशस्त मार्ग इन्द्रियों का निग्रह कर संयम की साधना है।
- ✦ संयम पालन करने के लिए दैव का अवलम्बन छोड़ पुरुषार्थ का आश्रय लेना चाहिए।
- ✦ संयम में इन्द्रिय और मन का निग्रह होता है। तप कर्मक्षय की दवाई है। त्याग से शान्ति मिलती है।
- ✦ जैसे वन का दाह जंगल में लगी आग के कई दिनों तक रहने से होता है वैसे ही कर्मों की राशि एक दिन में नहीं जलती उसके लिए तपरूप अग्नि सतत बनाये रखनी पड़ती है।
- ✦ त्याग से मन शान्त बनता है। त्याग में सुख और भोग में दुःख है।

इस प्रकार आपने आगम के आलोक और अनुभव के प्रकाश में संयम-तप-त्यागमय जीवन जीया तथा रत्नत्रय धर्म परिपालन से अध्यात्मसागर में गहरे गोते लगाकर अपनी आत्मा को मारणान्तिक सल्लेखना के लिए तैयार किया और परीक्षा के समय प्रथमश्रेणी में उत्तीर्णता प्राप्त की। भोगप्रधान इस काल में जहां मृत्यु से सारा संसार भयभीत है वहां रत्नत्रय धर्म के सर्वोच्च शिखर, संयम-तप-त्याग के उत्तुंग हिमालय, आध्यात्मिक उद्योगपति, जीवन्त समयसार, क्षमा-मृदुता-ऋजुता के शिखरामणि, प्रशममूर्ति आचार्यश्री ने समतापूर्वक अपने आत्मधर्मरूप संयम की रक्षा के लिए मरण से भयभीत न होकर मृत्युंजयी परमपुरुषार्थ के रूप में सल्लेखना विधि से अपूर्व समाधिमरण करके जगत् को चमत्कृत किया तथा आत्मप्रभावना व धर्मप्रभावना की।

परमपूज्य चारित्र चक्रवर्ती प्रथमाचार्य 108 शान्तिसागरजी महाराज के पावन चरणों में विनम्र प्रणतिपूर्वक उन्हीं की सल्लेखना के पावन अवसर पर अपनी भक्तिसुमनांजली समर्पित करते हुए महामना आचार्यदेव का यही आशीर्वाद चाहते हैं कि भगवन्! रत्नत्रय की निर्बाध आराधना से हमारे भीतर भी आत्मशक्ति प्रकट हो तथा हम भी रत्नत्रयी पुरुषार्थ के साथ संयम-तप-त्याग से मृत्युंजयी पुरुषार्थरूप सल्लेखना की साधना करके अन्त में समाधिमरण द्वारा अपने संसार को अल्प कर सकें।

प्रस्तुति - अजीत पाटनी, कोलकाता

विश्व शान्ति की स्थापना में इन आत्मिक पर्वों का महत्वपूर्ण स्थान है।

ऐसा नहीं हो कि मात्र पूजा तक यह पर्व सीमित रह जावे। - आचार्य वर्धमानसागरजी महाराज

तीर्थकरों की दिव्यदेशना में आत्मोन्नति धर्म का प्रतिपादन हुआ है। उन जिनेन्द्रों द्वारा प्रतिपादित धर्म जैन धर्म कहलाया। यह धर्म विश्वशान्ति कर्ता है यदि इसका यथार्थ परिपालन किया जावे। जैन धर्म की संस्कृति आध्यात्मिक पर्वों की संस्कृति है। पर्व आत्मिक उत्थान का परम पावन अवसर है। पर्वों की श्रृंखला में दशलक्षण पर्व का विशेष स्थान है, क्योंकि इस पर्व की आराधना, मनन एवम् चिन्तन सह धारण से विषय कषाय के दावानल में जलते हुए समग्र विश्व को चतुर्गति के दुःखों से निकालकर मुक्ति (मोक्ष) दाता है। भव आताप को दूर करने में आध्यात्मिक मेंघ के समान है यह महापर्व। अज्ञान अंधकार दूर करने और विषय कषाय का कूड़ा-कचरा निकालकर आत्म निर्मलता के लिए यह महापर्व आध्यात्मिक दीपावली भी कहा जा सकता है। क्रोध-मान-माया-असत्य-अशुचिता (लोभ) असंयम-परिग्रह-तप और त्याग के अभावरूप दस अधर्मों का हरण करने वाला यह महापर्व आध्यात्मिक दशहरा है। दस प्रकार के महारसायनों से आध्यात्मिक स्वास्थ्य का कारण है। उत्तम क्षमा से उत्तम ब्रह्मचर्य तक ये श्रमण धर्म (गौण रूप से श्रावकों के भी) आत्मानन्द के बीज परमात्मपदरूप फल के कारण हैं। यह महापर्व आध्यात्मिक संक्रान्ति का पर्व है, क्योंकि सभी प्राणी क्रोधादि विकारी भावों की आत्मा पर अनादि सत्ता को परिवर्तित कर (हटाकर) आत्मस्वभाव को प्रगट करने में समर्थ है। पर्व में दसधर्म की आराधना-अर्चना आत्मा के स्वभाव को जानने-पहचानने का अवसर देते हैं। यह महापर्व वैसे तो वर्ष में चैत्र-भाद्रपद-माघ मास में आता है, किन्तु भाद्रपद मास में विशेष उत्साह पूर्वक इसकी आराधना जैन समाज में की जाती है। वैसे क्षमा-मृदुता-सरलता-सत्यता-शुचिता-संयम-तप-त्याग-अपरिग्रह-ब्रह्मचर्य समस्त मानव जगत का परम आवश्यक आराध्य है। वर्तमान में विश्व शान्ति की स्थापना में इन आत्मिक धर्मों का महत्वपूर्ण स्थान है। भाद्रपद मास में विशेषकर इस दस दिवसीय पाठशाला में प्राप्त संस्कार आत्मा में सदैव विद्यमान रहें तो स्वात्म हित के साथ-साथ पर हित भी साधा जा सकता है। अतः स्व-पर हितकारक सार्वभौम, सार्वकालिक इस महापर्व के पुनः आगमन पर आत्म पावित्र्य हेतु परम संजीवनीभूत सभी दस धर्मरूप अपने आत्मस्वभाव को जाने-पहचानने और भक्तिपूर्वक मनन-चिन्तन पूर्वक आत्मा में उतारने का परम पुरुषार्थ जागृत करें। ऐसा नहीं हो कि मात्र पूजा तक यह पर्व सीमित रह जावे। समस्त जीवों को अभय प्रदाता, सुखकर, संसार दुःखनाशक, सकल दिव्य मनोवांछित पूरक, स्वर्ग मोक्ष संसाधक, तीर्थकरों-मुनिजनों ऋषियों के द्वारा आराध्य एवम् धारित, जिनेन्द्र भगवान द्वारा प्रतिपादित अनुपम दशलक्षण वाला यह धर्म सबका सदा मंगल करें। सभी को आत्मशान्ति दाता हो, इन्हीं मंगल भावनाओं के साथ।

प्रस्तुति - अजीत पाटनी, कोलकाता

धर्म के दस लक्षण

- आर्यिका सुपार्श्वमती माताजी

धर्म अत्यन्त विशाल व विस्तृत विषय है वह परिभाषाओं की सीमाओं में सिमटने वाला नहीं वह अनुभूति का विषय है। विश्व की प्रत्येक वस्तु का अपना एक धर्म है चाहे चेतन सत्ता हो या अचेतन सत्ता, सब अपने-अपने धर्म से अनुप्राणित है। अतः धर्म की परिभाषा चेतन अचेतन सभी के संदर्भ में पूर्ण होनी चाहिए। आचार्यों ने अपने अनुभव, चिन्तन मनन के आधार पर कहा वस्तु सहावौ धम्मो वस्तु का स्वभाव ही धर्म है।

प्राणी का स्वभाव विविध रूपा है। हमारे तीर्थकरों ने, आचार्यों ने विद्वानों ने प्राणी मात्र को अपने स्वभाव में स्थिति कराने हेतु स्वभाव को अत्यन्त सहज वा सरल रूप में समझाया है उन्होंने जीव को लक्ष्य करके स्वभाव के, धर्म के लक्षण समझाए हैं, जिससे वह सहज रूप में उन्हें समझे और विभाव से स्वभाव की ओर प्रवृत्त हो सके। उन्होंने आत्म धर्म के दशलक्षण समझाए हैं जो क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग आकिंचन्य व ब्रह्मचर्य है। ये धर्म के दस गुण हैं अतः उन्हें भी धर्म कहा जाता है इनके धारण करने से प्राणी विभाव से मुक्त होकर स्वभाव में स्थिर हो जाते हैं। अतः धारण करने के कारण से इन्हें धर्म कहा जाता है। इन धर्मों के बल से महान पद की प्राप्ति होती है। आत्म ज्ञान का विकास होता है और अपूर्व शक्ति की प्राप्ति होती है।

इन दस धर्मों में सर्व प्रथम क्षमा का स्थान है। जिस प्रकार सर्वप्रकार की वस्तुओं की उत्पत्ति स्थान पृथ्वी है उसी प्रकार सर्व धर्मों की उत्पत्ति स्थान क्षमा है। शरीर के आठों अंगों में उत्तभाग सिर का स्थान है उसी प्रकार सर्व धर्मों में उत्तम क्षमा है। सर्वप्रकार के परिग्रह का त्याग कर देने पर भी यदि हृदय में क्षमा के अंकुर उत्पन्न नहीं हुए तो आत्म साधना अधूरी रहती है। क्षमा के प्रभाव से ही विरोधी के विरोध को सहन करने की शक्ति प्राप्त होती है। इस क्षमा धर्म के प्रभाव से मार्दव गुण प्रकट होता है। जिससे मानव विनयशील बनता है। उस विनय के प्रभाव से कठिन कार्य भी सरल हो जाते हैं। विनय से विद्यायें भी शीघ्र सिद्ध हो जाती हैं। द्रोणाचार्य की पत्थर की मूर्ति बनाकर विनय करने वाले भील ने शब्दभेदी वाण विद्या सिद्ध की। विनय से विरोध भाव नष्ट हो जाते हैं। आत्म शान्ति विनय के प्रभाव से ही प्राप्त होती है।

विनय प्रभाव से मायाचार दूर हो जाता है, सरल स्वभाव का उदय होता है। उस सरलता से परम शान्ति की प्राप्ति होती है। सरल स्वभावी पांडवों को राज्य की प्राप्ति हुई थी। मायाचारी कौरव दुर्गति में गये। सरलता से लोभ कषाय शान्त हो जाती है। संतोष धर्म की प्राप्ति होती है। संतोषी की देव भी पूजा करते हैं।

संतोष के कारण ही जयकुमार की देवों ने पूजा की। संतोष के कारण ही मानव उन्नत बनता है, मानसिक आकुलता का अभाव संतोष के प्रभाव से होता है। संतोष के बिना ही यह प्राणी संसार में भ्रमण करता है।

संतोष धर्म के प्रसाद से सत्य की प्राप्ति होती है क्योंकि असत्य का कारण कषाय है और कषाय के अभाव में स्वयमेव सत्य की प्राप्ति होती है। इसलिए संतोष कारण है और सत्य उसका कार्य है।

सत्य के प्रभाव से अग्नि का जल होता है जल का थल होता है। सत्य के प्रभाव से उत्तम वचन शक्ति प्राप्त होती है। सत्य के प्रसाद से धनदेव सेठ की विजय प्राप्त हुई। सत्यवादी की देव पूजा करते हैं।

सत्य के प्रभाव से संयम की प्राप्ति होती है। जिस संयम से दुर्गति नष्ट होती है जो इन्द्रिय और मनोविजई होता है वह देवों से पूजित होता है। जैसे वारिषेण, अभय कुमार, धन्वन्तरी संयम के प्रसाद से पूजित हुए थे। संयम का विकास तप के कारण अनेक ऋद्धियां उत्पन्न होती हैं। उपवास नामक तप के प्रभाव से सेठ पूत्र देव होकर नागकुमार हुआ, जो महान पराक्रमी था और अन्त में कर्मों का नाश कर मोक्ष पद प्राप्त किया। तप की भावना से ही त्याग धर्म की जागृति होती है। त्याग के बल से अदभुत शक्ति उत्पन्न होती है।

त्याग धर्म से ही मानव चार प्रकार का दान और पूजा कर सकता है। जिस त्याग के प्रभाव से पंचाश्रय प्राप्त होते हैं जो उत्तम पात्र तीर्थकरों को दान देते हैं वह उसी भव में या दो तीन भव में मोक्ष में चले जाते हैं। त्याग के कारण ही श्रेयांश राजा

भरत चक्रवर्ती के द्वारा पूजित हुआ था और ग्रहण करने के कारण पिण्याकगन्ध नामक सेठ और लुब्धक सेठ के समान दुर्गति में जाते हैं।

त्याग से परिणामों में निर्मलता आती है जैसे कर्ज उतर जाने से मानव को परम आह्लाद होता है उसी प्रकार त्याग से परम आह्लाद की प्राप्ति होती है। त्याग से ही अकिंचन्य धर्म होता है। जिस अकिंचन्य के प्रभाव से मानव तीन लोक का अधिपति होता है अन्तिम सर्व धर्मों का फल ब्रह्मचर्य है। वह ब्रह्मचर्य ही मानव का महान गुण है जिसके प्रभाव से सीता के लिए अग्नि का जल हुआ था।

वन्दना अनन्तमति, राजमति, दौपदी आदि अनेक माननीय वनितायें तथा जयकुमार सुदर्शन आदि महापुरुष इसी के प्रभाव से जगत में पूज्य हुये। इस व्रत की महिमा अगम्य है। निर्मल ब्रह्मचर्य के प्रभाव से क्रूर देवता भी शान्त हो जाते हैं।

प्रस्तुति - अजीत पाटनी, कोलकाता

विकारों से मुक्ति का पर्व

- प्राचार्य नरेन्द्रप्रकाश शास्त्री, फिरोजाबाद



सुख कहीं बाहर नहीं, हमारी आत्मा में ही है। अज्ञानी उसे व्यर्थ ही बाहर (मन्दिर-मस्जिद-मठ अथवा पन्थ-महन्त आदि में) खोजता फिरता है। सन्त कबीर ने कहा भी है -

ज्यों तिल माहीं तेल है, ज्यों चकमक में आग। तेरा साईं तूझमें, जाग सके तो जाग।।

यह आत्मा - जागरण ही धर्म है। इस पर्व में इसी धर्म की आराधना की जाती है। यह व्यक्ति-पूजा का नहीं, गुण-पूजा का पर्व है। यह पर्व जीवमात्र को क्रोध,मान, माया, लोभ ईर्ष्या, द्वेष असंयम आदि विकारी भावों से मुक्त होने की प्रेरणा देता है। हमारे विकार या खोटे भाव ही हमारे दुःख का कारण हैं और ये भाव वाह्य पदार्थों या व्यक्तियों के संसर्ग के निमित्त से उत्पन्न होते हैं। आसक्ति-रहित आत्मावलोकन करने वाला प्राणी ही इनसे बच पाता है। इस पर्व में इसी आत्म दर्शन की साधना की जाती है। यह एक ऐसा अभिनव पर्व है कि जिससे किसी अवतार, युग पुरुष या व्यक्ति विशेष का गुणगान न करके अपने ही भीतर छिपे सदगुणों को विकसित करने का पुरुषार्थ किया जाता है। अपने व्यक्तित्व को समुन्नत बनाने का यह पर्व एक सर्वोत्तम माध्यम है।

जैनधर्म में विकारों से मुक्ति के दस उपाय बताये गए हैं। उन्हें धर्म के दस लक्षण भी कहा जाता है। उन्ही दस लक्षणों की चर्चा-वार्ता की प्रधानता होने से इस पर्व को दशलक्षण पर्व कहा जाता है। इन दस लक्षणों को अपने आचरण में उतारने के लिए जो साधना करता है, वह एक दिन निर्विकार हो जाता है। यह हम सबका कर्तव्य है कि विकारों से बचते हुए हम धर्म-मार्ग पर चलें। प्रस्तुत लेख में उन्हीं दस उपायों की चर्चा संक्षेप में की जा रही है। कृपया पाठकवृन्द मनन करें।

क्रोध पर अंकुश लगायें - आज का मनुष्य अपने आवेगों से परेशान है। वह हर समय तनाव में जी रहा है। सास और बहू, ननद और भावज, दिवरानी और जिठानी तथा भाई और भाई के बीच की अनबन या कलह आज घर-घर की कहानी बन गई है। पूरे देश के लोग जाति, भाषा और समुदाय के नाम पर झगड़ रहे हैं। यह सब आम आदमी के मन में रचे-पचे क्रोध का ही दुष्परिणाम है। क्रोध की दिनों-दिन बढ़ती इस लहर पर अंकुश लगा कर ही हम पारिवारिक और सामाजिक शान्ति का मार्ग प्रशस्त कर सकते हैं।

क्रोधी जीव दूसरों से घृणा करने लगता है तथा अपना भला-बुरा नहीं सोच पाता। उसकी बुद्धि और विचार-शक्ति कुंठित हो जाती है। उबलते हुए पानी में जिस तरह हम अपनी परछाई नहीं देख सकते, उसी तरह क्रोध के आवेश में स्वहित-चिन्तन नहीं हो सकता। सहनशीलता, समता और क्षमा के बीज क्रोध के अभाव में ही पल्लवित और पुष्पित होते हैं। क्रोध के जीतने के अनेक उपाय हैं। जब क्रोध आये तो तुरन्त प्रतिक्रिया व्यक्त करने से बचना चाहिए। समय का अन्तराल क्रोध के वेग को कम कर देता है। पूरी और गहरी श्वास लेने से भी क्रोध पर विजय पाई जा सकती है।

अकड़ छोड़े : विनय बनें - दया धर्म का मूल है। दया-भाव से विनय गुण का विकास होता है और विनय से ही किसी के व्यक्तित्व की शोभा होती या बढ़ती है। सामान्यतया किसी महापुरुष के सामने झुकने को विनय माना जाता है किन्तु सच्ची विनय तो

उनकी आज्ञा का पालन करना है। कोई बेटा अपने बाप के पैर तो रोज दाबे, किन्तु उन्हें वक्त पर न तो भोजन दे और न उनका कहना ही माने तो उसे सपूत नहीं कहा जा सकता। तीर्थकरों द्वारा बताये मार्ग पर चलना ही वास्तविक विनय है।

आज हमारे स्कूल और कालिजों के छात्र रेलों और बसों के शीशे तोड़ रहे हैं, ईट-पत्थर फेंककर राष्ट्रीय सम्पत्ति को क्षति पहुँचाने तथा धौंस धमकी से परीक्षा में नकल करने में संलग्न हैं। यह तो हृद दर्जे की अविनय है। विद्या विनयेन शोभते। विनय शून्य आज की हमारी शिक्षा-पद्धति भारतीय मूल्यों का उपहास बन कर रह गई है। इसे बदलना होगा।

पैसा, पद, प्रभुता, ज्ञान आदि को पाकर घमण्ड नहीं करना चाहिए। आज उच्च पदों पर बैठे हुए लोग कल्पित बड़प्पन के नशे में चूर हैं। ये अपने सामने दूसरों को तुच्छ समझते हैं तथा दूसरों को पीछे धकेल कर स्वयं आगे बढ़ने में विश्वास रखते हैं। इस प्रवृत्ति में बदलाव विनय-गुण या मार्दव धर्म को अपनाने से ही सम्भव है। मृदु परिणामी व्यक्ति कभी किसी का तिरस्कार नहीं करता और यह सृष्टि का नियम है कि यहां दूसरों का आदर देने वाला ही स्वयं आदर का पात्र बन सकता है।

कथनी और करनी एक हो - महापुरुष जो कहते हैं, वही करते हैं, किन्तु कुटिल परुषों की कथनी और करनी में अन्तर होता है। यह मायाचार है। शास्त्रों में इसे त्याज्य बताया गया है। आज सर्वत्र मायाचार या छल-कपट का साम्राज्य है। किसी भी शहर की टूटी-फूटी सड़कें, ठेके पर बनी नई किन्तु जर्जर इमारतें, ऊपरी आमदनी (रिश्वत) खाने-पीने की वस्तुओं में मिलावट, करों की चोरी, दो तरह के वहीखाते आदि हमारे जीवन में घुले-मिले मायाचार के जीते-जागते नमूने हैं। हमारे इस छल-कपट से परिवार समाज और देश में अनाचार-भ्रष्टाचार पनप रहा है। धर्म का क्षेत्र भी मायाचार से अछूता नहीं है। हम मन्दिर में तो अहिंसा, सत्य और अपरिग्रह की चर्चा करते हैं किन्तु मन्दिर से बाहर उत्पीड़न, असत्य और अन्यायपूर्वक दौलत कमाने के फेर में पड़े रहते हैं। किसी ने ठीक ही कहा है -

सत्य-अहिंसा दया-प्रेम से, अपना बस इतना ही नाता है। दीवालों पर लिख देते हैं, दीवाली पर पुत जाता है।।

हमारा मन्दिर का धर्म अलग है और बाजार का धर्म अलग, लेकिन ध्यान रहे कि ऐसी दुहरी जिन्दगी जीना धर्म नहीं हो सकता। धर्म तो वहां होता है, जहाँ ऋजुता (सरलता) होती है। आर्जव धर्म का अर्थ है - मन, वाणी और कर्म की पवित्रता और यह पवित्रता ही किसी व्यक्ति को महान बनाती है।

तृष्णा या लोभ से बचें - क्रोध, मान, माया आदि कषायों या पापों की उत्पत्ति लोभ से होती है। जर, जमीन और जोरू के लोभ से लड़ाईयाँ तथा जीभ के लोभ (चटोरेपन) से बीमारियाँ होती हैं। दहेज जैसी कुरीतियों अथवा रिश्वत जैसे भ्रष्टाचार के पनपने का कारण भी लोभ ही है। आचार्यों ने इसलिए लोभ को पाप का बाप कहा है।

लोभ, तृष्णा, हवस, कामनायें आदि पर्यायवाची शब्द हैं। लोगों की इच्छाओं का कभी अन्त नहीं होता। आदमी बूढ़ा हो जाता है, किन्तु तृष्णा कभी बूढ़ी नहीं होती। तृष्णा के फेर में पड़ा हुआ मनुष्य कभी सुखी नहीं हो सकता।

गंगा-स्नान आदि से शरीर तो स्वच्छ हो सकता है, किन्तु आत्मा की पवित्रता के लिए तो लोभ का त्याग ही आवश्यक है। लोभ व्यक्तित्व को बौना बना देता है, क्योंकि लोभी व्यक्ति के दया, करुणा, सहानुभूति, संवेदना आदि गुण मर जाते हैं। जब कहीं कोई दुर्घटना होती है तो कुछ लोग घायलों की सेवा करते हैं किन्तु कुछ लोभी प्रवृत्ति के दुष्ट व्यक्ति माल पार करने के चक्कर में रहते हैं। लोभ छोड़ने से ही आत्मा में उत्तम शौच धर्म प्रकट होता है।

वाणी का सदुपयोग करें - धर्म के दस लक्षणों में एक उत्तम सत्य भी है। सत्य का अर्थ है कि जो अजन्मा और अमर्त्य है, उसकी खोज करना। व्यवहार में वाणी के सदुपयोग को सत्य कहते हैं।

बोलने की शक्ति का मिलना किसी वरदान से कम नहीं है। यह शक्ति सम्पूर्ण जीव जगत में केवल मनुष्य को प्राप्त है। अपनी वाक् शक्ति के कारण मनुष्य समस्त जीवधारियों में सर्वश्रेष्ठ समझा जाता है। ऐसी दुर्लभ वाणी का सदुपयोग करने वाला ही धर्मात्मा कहला सकता है।

हित-मित और प्रिय वचन बोलना ही वाणी का सदुपयोग है। कटु, कर्कश एवम् निन्दापरक वचन वाण की तरह होते हैं, जो सुनने वाले के हृदय में घाव कर देते हैं। अन्धों के पुत्र अन्धे होते हैं।

-द्रोपदी के इन मर्मभेदी वचनों का परिणाम महाभारत के युद्ध के रूप में सामने आया। आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है कि पर-

पीड़ाकारक एक शब्द के प्रयोग से भी सारे पुण्य नष्ट हो जाते हैं।

सत्य की पहचान शब्दों से नहीं, अभिप्राय से करनी चाहिए। यदि अभिप्राय में खोट न हो तो बोला गया असत्य वचन भी शास्त्रों में सत्य माना गया है, किन्तु ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध या लोभवश कहे गये शब्द असत्य की कोटि में गिने जाते हैं। हमेशा नम्रतापूर्वक एवम् अवसरानुकूल वाणी बोलनी चाहिए। मीठे और कोमल शब्द अमृत के समान तथा कडुए और कठोर शब्द विष तुल्य हैं।

संयम जीवन का प्राण है - संयम जीवन का सार तत्व है। जिस तरह मूर्ति के बिना मन्दिर, सुगन्ध के बिना पुष्प और पानी के बिना कुँए का कोई महत्व नहीं है, उसी प्रकार संयम या सदाचार से शून्य जीवन निरर्थक है। संयम जीवन को भार स्वरूप होने से बचाता तथा व्यक्तित्व को परिष्कृत करता है। यह मानव शरीर एक ऐसे रथ की तरह है, जिसमें इन्द्रियों रूपी पांच घोड़े जुते हुए हैं। मन उसका सारथी है। यदि वह संयमित और विरक्त है तो रथ को सही मार्ग पर ले जाता है, अन्यथा विषयासक्त चित्त तो हमेशा कुमार्गगामी ही होता है। जिस प्रकार घोड़े को लगाम के वश में रखा जाता है, उसी प्रकार इन्द्रियों का वश में रखना संयम से ही सम्भव है।

बीड़ी, सिगरेट, चरस, तम्बाखू, भांग, शराब, ड्रग्स आदि व्यसनों का त्याग संयम कहलाता है। जीवों को मारकर उनसे निर्मित होने वाली वस्तुओं जैसे चमड़े के जूते, बेल्ट, सूटकेस आदि अथवा रेशम के वस्त्र आदि का त्याग करना भी संयम है। संयम भोजन-पान में भक्ष्य के विवेक पर भी जोर देता है। वह जीवन का अनुशासन है। उसका पालन करते हुए ही जीवन को सुखी, निरापद और शानदार बनाया जा सकता है।

तप का प्रायोजन - मनःशुद्धि - धर्म के दस लक्षणों में एक उत्तम तप भी है। तप का अर्थ है तपाना या तपना। लोहे की टेढ़ी छड़ तपाकर सीधी की जाती है। सोना तपने के बाद ही आभूषण बनता है। ऐसे ही तप के द्वारा आत्मा की वक्रता को विदा किया जाता है। कुरल काव्य में शान्तिपूर्वक कष्ट सहने के अभ्यास को तप कहा गया है। आचार्य उमास्वामी ने इच्छाओं के निरोध को तप बताया है। तपसा निर्जरा च - तप से संवर और निर्जरा दोनों होती हैं। अर्थात् कर्म-भार हल्का होता है।

ज्ञान प्राप्ति में कष्ट सहना पड़ता है। कष्ट उठाकर प्राप्त किया हुआ ज्ञान ही प्रामाणिक और स्थायी होता है। सुविधाओं के साथ प्राप्त ज्ञान मुसीबत में काम नहीं आता। साधु उपवास (अन्न के साथ-साथ विषय कषायों का त्याग) करता है, खाना हुआ तो भूख से कम खाता है, नीरस आहार लेता है, एक आसन से बैठकर प्रायश्चित्त, स्वाध्याय, ध्यान आदि करता है। यही उसका तप है। तप से आत्मा पवित्र होती है। गृहस्थों को भी एक देश उनका अनुकरण करना चाहिए।

तप का प्रयोजन है मन की शुद्धि। मन की शुद्धि के बिना काया को तपना या क्षीण करना व्यर्थ है। सन्तान, धन, यश आदि की प्राप्ति के लिए साधु तप नहीं करते। वे तप करते हैं जन्म-मरण रूप संसार-चक्र से छुटने के लिए। तप से ही आध्यात्म की यात्रा का ओंकार होता है।

लेना ही नहीं, देना भी सीखो - दान मनुष्य का आभूषण है। दान देने वालों का स्थान लेने वाले से ऊँचा होता है। बादल यदि जल-दान करना बन्द कर दें तो वह काले पड़ जाते हैं। किन्तु बरसाने पर उनका रंग उज्ज्वल हो जाता है। जल-दान करते रहने से बादलों को ऊपर आकाश में स्थान मिला है, जबकि समुद्र, जो केवल जल का संचय करता है, को नीचे रसातल में जगह मिली है। उसका पानी भी खरा हो जाता है। उससे किसी की प्यास नहीं बुझ सकती। स्पष्ट है कि देने का आनन्द कुछ पाने की आनन्द से बड़ा है। आचार्यों ने साधुओं के लिए उत्तम त्याग और गृहस्थों के लिए दान को उत्तम कर्म बताया है। त्याग साध्य है और दान साधन। त्याग में अन्तरंग के राग-द्वेष को छोड़ने की बात है तो दान में अप्राप्त भोगों की इच्छा न करने तथा प्राप्त भोगों में शनैः-शनैः विमुख होने का भाव है।

दान का महत्व उसकी उपयोगिता में है। एक गरीब आदमी तेल से भरा दीपक रोज अँधेरी गली में रखता था। उससे अनेक राहगीर ठोकर खाने से बच जाते थे। उसी गाँव का एक सेठ घी का एक दीपक मन्दिर में चढ़ाता था। दोनों मरकर जब स्वर्ग पहुँचे तो गरीब को बैठने के लिए सेठ से ऊँचा सिंहासन दिया गया। सेठ के अहं को ठेस पहुँची। तब धर्मराज ने उसे समझाया कि यह महत्व की बात नहीं है कि किसने कितना दिया, बल्कि कैसे और किसलिए दिया, महत्व इसका है।

धन की तीन गतियाँ हैं - दान-भोग और नाश। बुद्धिमत्ता इसी में है कि नष्ट होने से पहले उसे परोपकार में लगा दिया जाय।

उत्तम कार्यो में दिया या लगाया हुआ धन ही सार्थक है, अन्यथा तो उसे अनर्थो की जड़ कहा गया है।

परिग्रह : दुःख का कारण - शरीर से भिन्न ज्ञानमयी आत्मा का ध्यान करने से आकुलता कम होती है। यह आत्मा सर्व परिग्रहों से मुक्त है। मिथ्यात्व (खोटी धारणा) और कषाय को अन्तरंग परिग्रह तथा धन-धान्य, सोना-चाँदी, बर्तन-वस्त्रादि को वाह्य परिग्रह कहते हैं। जो इनका आंशिक रूप से भी त्याग करता है, वह प्रतिकूल संयोगों के मिलने पर भी शान्त और संयत रह सकता है। परिग्रह ही दुःख का मूल कारण है। स्वाधीनता में सुख तथा पराधीनता में दुःख है। हमने आज तक बाहरी वस्तुओं की प्राप्ति में सुख माना है तथा छल-बल से हम उन्हें जुटाते रहे हैं। इनको पाने में भी मुसीबतें सहनी पड़ती हैं तथा इनके बिछुड़ने पर भी घोर मानसिक सन्ताप होता है। जो लोग आनन्द का जीवन जीना चाहते हैं, उन्हें वाह्य पदार्थों के प्रति आसक्ति का त्याग करना चाहिए। समत्व की साधना तभी सम्भव है। तिलतुषमात्र परिग्रह के त्यागी मुनिवृन्द हनि-लाभ, जीवन-मरण, लाभ-अलाभ, यश-अपयश आदि में सदा समभाव रखते हैं। इनके इसी आदर्श का यथाशक्ति अनुकरण करना गृहस्थ का कर्तव्य है।

ब्रह्मभाव अन्तर लिखो - संसार में सदा से दो धारायें चल रही हैं - एक योग की और दूसरी भोग की। भोग का अर्थ विषय-सेवन है, जो इन्द्रियों के द्वारा पदार्थों के प्रति आसक्ति रूप होता है। योग में आत्मा के निर्विकार स्वरूप की प्राप्ति के लिए चिन्तन किया जाता है। एक योगी ही सच्चा ब्रह्मचारी होता है। ब्रह्मचर्य का वास्तविक अर्थ है अर्न्तयात्रा अर्थात् अपनी ज्ञानरूप आत्मा में लीन होना।

व्यवहार में मन की वासना या विकारों को जीतने का नाम ब्रह्मचर्य है। हमारे आचार्यों ने स्त्री-पुरुष के शरीर में राग-रूप परिणाम देखने को अब्रह्म कहा है। अपनी धर्मपत्नी या पति को छोड़कर अन्य सभी स्त्रियों या पुरुषों को माता-बहन या भाई के समान समझना विशेष रूप से नारी जाति का सम्मान करना गृहस्थ का ब्रह्मचर्य है। हमारे पुराणों में सीता, द्रोपदी, मनोरमा, अंजना, रयणमंजूषा आदि महासतियों तथा भगवान नेमि पार्श्व-महावीर, सुकौशल मुनि, भीष्म पितामह, कुणाल आदि सत्पुरुषों के प्रेरक जीवन प्रसंग मिलते हैं, जिनमें ब्रह्मचर्य पर दृढ़ रहने का उत्साह वृद्धिगत होता है। सादगी, हल्का-सुपाच्य भोजन, वृद्ध-सेवा, सत्संगति और स्वाध्याय से भी ब्रह्मचर्य के पालन में दृढ़ता आती है।

सारांश - संक्षेप में यही है धर्म के दस लक्षण। धर्म तो एक और अखण्ड है, ये दस तो उस तक पहुँचने के रास्ते हैं। कही से भी शुरू कीजिए, आप अपनी मंजिल पा जायेंगे। इस दशांग धर्म के आचरण से ही आत्मा निर्मल-निर्विकार होता है। व्यावहारिक जीवन की सफलता भी इन्हीं के अनुपालन पर निर्भर है। जिसके आचरण में ये उतर जाते हैं, वह सुख और आनन्द के वातावरण में विचरण करने लगता है। जो भी इन्हें अपनायेगा, वह अनुपम सुख पायेगा। आईये हम भी इस धर्म मार्ग पर चलने का संकल्प लें।

प्रस्तुति - अजीत पाटनी, कोलकाता

साधुता के लिए आचार्यश्री शान्तिसागरजी की सुशिक्षाएं

- मुनिश्री अपूर्वसागर महाराज (संघस्थ आचार्य श्री वर्धमान सागरजी महाराज)



बीसवीं सदी में भारत की धरा पर एक अतिशयकारी व्यक्ति का उद्भव हुआ जिसने प्रायः लुप्त होती दिगम्बर जैन श्रमण संस्कृति में प्राण फूँके। जैन समाज सदाचरण से विमुख हो व्यसन व फैशन में प्रमुख हो रहा था। विषम काल में जैन सन्त अपनी साधना में शिथिलाचारी हो रहे थे। धर्म कोसों दूर दिखाई नहीं देता था। धर्माचरण की परछाई भी नहीं दिखाई दे रही थी। ऐसे समय में एक अतिशय चमत्कारी सन्त ने जैन समाज एवं संस्कृति का नक्शा ही बदल दिया। एक ऐसा इतिहास रच दिया कि वह मिटाये नहीं मिट सकता उसे जितनी मिटाने की कोशिश की जाती है उतना और उभर कर सामने आता है। जिनका नाम ही अशान्त एवं सोई हुई चेतना को शान्त व जाग्रत कर देता है। जिनकी देह की आभा निश्चेत व्यक्ति को स्फुरायमान कर देती थी। जिनकी वाणी में ऐसा जादू था कि मानव के मोह-ममता रूपी चेहरे बदलकर श्रद्धा व चरित्र में बदल जाते थे। जो अपनी ध्यान मुद्रा मात्र से सुख की राह दिखलाते थे। ऐसे अद्भूत व्यक्तित्व का नाम है शान्ति के महासागर आचार्यश्री शान्तिसागर जी। जिन्होंने अपना सारा जीवन सुख-साधनों को छोड़ आत्मसाधना की ओर मोड़ दिया। जिन्होंने इन्द्रिय रूपी चपल चोरों को संयम रूपी सिपाही के द्वारा नियंत्रित कर लिया था। जिन्होंने पीपल के पत्ते की तरह सदा दोलायमान चंचल मन रूपी बन्दर को धर्म ध्यान रूपी डोरी से ऐसा बांध दिया था जिससे वह विषय-भोगों, काम-क्रोध रूपी वृक्षों की शाखा पर उछल कूद नहीं करता था। क्षमा उनका मित्र था और दया जिनकी सहेली थी। क्रोध तो मानों उनके नाम मात्र से सात समुद्र पार चला गया था। धैर्य रूपी मेरु पर्वत कभी भी विपत्ती रूपी (उपसर्ग-परीषह) आंधी-तूफान से चलायमान नहीं हुआ। जिनका उपयोग सदा जिनेन्द्र देव की वाणी के श्रवण-पठन-मनन-चिन्तन व मंथन में व्यस्त रहता था। जिन्होंने तीर्थंकर की दिव्य वाणी को जीवन रूपी कसौटी पर अच्छी तरह कसा था। जो घण्टों श्रुतसागर में गोते लगाते थे और आत्म वैभव रूपी समुद्री धरातल से अद्भूत, अनुपम व बहुमूल्य मोती चुनकर, बटोरकर बाहर लाते थे और उन्हें स्वकल्याण के साथ-साथ पर कल्याण की भावना से दूसरों को बाँटते थे, देते थे। जिन्होंने अपने गहरे अनुभव के आधार पर साधू-संस्था को, श्रमण संघ को जो मोती बाँटे वे बहुत ही बेसकीमती थे। कैसी उनकी चमक-दमक थी आवो उनमें से कुछ को हम देखें-परखें और अपने जीवन रूपी गले का हार बनावें -

शांतमूर्ति चारित्र चक्रवर्ती श्री शान्तिसागर जी ने मुनिराजों को सुशिक्षा के संकेत दिये -

१) सच्चा साधु वही हो सकता है जिसके पास परिग्रह न हो, कषाय न हो, दुनियाँ की झंझटे न हो और जो स्वाध्याय में लीन रहता हो।

२) शरीर से निस्पृहता कैसी हो ? उसकी ओर संकेत करते हुए कहते थे कि "हम पहले घर में पाहुने सदृश रहते थे, अब शरीर

में पाहुने सदृश है।”

३) जीवन में सरलता कैसी हो, तो उन्होंने सूत्र दिया “यदि बालक भी हमें हमारी भूल बताएगा तो हम भूल स्वीकार कर लेंगे।”

४) शत्रु व मित्र में समता का संकेत दिया “जो हमारा विरोध करता है उस पर भी हमारा वात्सल्य है, उसे भी हमारा आशीर्वाद है कि वह सदबुद्धि प्राप्त कर आत्म कल्याण करे।”

५) मौन की सुशिक्षा देते हुए कहा कि “मौन रखने से संसार का आधा सम्बन्ध छूट जाता है। सैकड़ों लोगों के मध्य घिरे रहने से ऐसा लगता है मानों अपनी कुटी में बैठे हों। मौन से मन की शांति बहुत बढ़ती है। मन आत्मा के ध्यान की ओर जाता है। वचनालाभ में सत्य का कुछ न कुछ अतिक्रमण भी होता है, मौन द्वारा सत्य का संरक्षण हो जाता है। चित्तवृत्ति बाह्य पदार्थ की ओर नहीं दौड़ती है।”

६) व्रतों के प्रति निष्ठा रखने की ओर संकेत दिया कि “कभी भी व्रत भंग नहीं करना चाहिए। प्राण जाते हुए भी प्रतिज्ञा की रक्षा करनी चाहिए।”

७) ख्याति खाई में डालती है उससे बचने के लिए शिक्षा दी की, “साधु की उतनी-उतनी अधिक उन्नति होती है जितनी-जितनी यश लोलुपता को वह त्यागता है।

८) उन आत्म अनुभवी ने अनुभव कि बात कही कि, “अरे! जब छह माह के अभ्यास से आत्मा का परिचय होता है, तब उसमें सारा जीवन लगा देने से वह क्यों नहीं होगा।”

९) मांगने वाले जैन साधू नहीं और जैन साधू मांगने वाले नहीं।

१०) त्यागी को रोग वैराग्य के लिए होता है और भोगी को रोग रोने के लिए होता है।

११) आत्म कल्याण क्षण मात्र में सम्पन्न नहीं होता। अनेक भवों में पुरुषार्थ तथा उद्योग किया जाता है तब सफलता मिलती है।

१२) हम व्यवहार धर्म का पालन करते हैं। भगवान का दर्शन करते हैं, अभिषेक देखते हैं। प्रतिक्रमण-प्रत्याख्यान करते हैं। इन सभी क्रियाओं का यथाविधि पालन करते हैं, किन्तु हमारी अन्तरंग श्रद्धा निश्चय पर है।

१३) साधु का नेत्र आगम है। अ-काल में अध्ययन करना आगम में निषिद्ध है। सन्ध्याकाल भगवान की दिव्यध्यान की बेला है। यह सोचने का समय है, पढ़ने का समय नहीं।

१४) नीरोगता का बीज परिश्रम, ब्रह्मचर्य, परिमित आहार व विहार है।

१५) मुनिधर्म का मूलाधार संसार तथा भोगों से उदासीनता और सम्पूर्ण आशाओं का परित्याग है। इसके लिए अन्तःकरण में सदा अनित्य भावना विद्यमान रहनी चाहिए।

अपने जीवन के अनुभवों से साधु संस्था के लिए शिक्षाप्रद संकेत देकर जिन्होंने हम सभी पर महान उपकार किया है उन परमपूज्य चारित्र चक्रवर्ती प्रथमाचार्य १०८ शान्तिसागर जी महाराज की सल्लेखना दिवस के परम पावन अवसर पर उनके पुनीत चरणों में हम अपनी श्रद्धा के सुमन समर्पित करते हैं।

प्रस्तुति - अजीत पाटनी, कोलकाता

युग प्रवर्तक महामना के चरणों में विनम्र भावांजली

- मुनि अर्पितसागर महाराज (संघस्थ आचार्य श्री वर्धमान सागरजी महाराज)



योगेन्द्र चूड़ामणि सिद्धान्त पारंगत धर्मसाम्राज्य नायक, चारित्र चक्रवर्ती, बीसवी सदी के प्रथमाचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज के समडोली ग्राम में आचार्य पद पर सन् १९२४ में प्रतिष्ठित होते ही संघ सहित दक्षिण भारत के तीर्थक्षेत्रों की यात्रा प्रारम्भ कर कुम्भोज बाहुबली, कुंथलगिरि व श्रवणबेल गोला की ओर विहार कर जिनधर्म की महती धर्मप्रभावनी की। सन् १९२५ में श्रवणबेलगोला स्थित भगवान बाहुबली स्वामी का महामस्तकाभिषेक भी आपके सान्निध्य में सम्पन्न हुआ। इस प्रकार दक्षिण भारत में जिनधर्म की प्रभावना देखकर ही मानों श्रेष्ठी श्री पूनमचंदजी घासीलालजी जौहरी मुम्बई निवासी की भावना हुई और अपने आचार्यश्री से सम्मेशिखरजी की यात्रा व उत्तर भारत में जिनधर्म की प्रभावना के लिए निवेदन किया, किन्तु आचार्यश्री का मन तब नहीं बना। पुनः बारामती में निवेदन किया लेकिन अभी काल लब्धि नहीं आयी। इसके बाद सन १९२७ का चातुर्मास पुनः कुम्भोज बाहुबली में हुआ। तब आचार्यश्री शांतिसागर जी ने संघस्थ मुनि वीरसागर जी, मुनि नेमिसागर जी, मुनि अनन्तवीर्य जी ऐलक चन्द्रसागर जी सहित ४ ऐलक जी व क्षुल्लक पायसागर जी सहित तीन क्षुल्लक, क्षुल्लिका आदि विशाल संघ सहित सम्मेशिखर जी की यात्रा की स्वीकृति प्रदान की। इसी समय एक वृद्ध पंडित ने विनयपूर्वक आचार्यश्री को सलाह दी कि प्रथम बार दिगम्बर साधू उत्तर भारत की यात्रा पर जा रहे हैं इसलिए कोई मंत्र की साधना कर जाना उचित होगा।

आचार्यश्री ने कहा पंडितजी हमें आगम विरुद्ध सलाह दे रहे हो, कोई महाव्रती क्या अव्रती को नमस्कार करेगा ? मंत्र साधना में अव्रती देवता को नमस्कार करना पड़ेगा।

कार्तिक माह की अष्टान्हिका के समापन के बाद मार्गशीर्ष एकम से श्रेष्ठी श्री घासीलाल जी जौहरी ने आचार्य संघ की यात्रा सपरिवार साथ रहकर प्रारम्भ कराई। संघ के साथ श्री जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमा जी का समवशरण श्रावकों के दर्शन व पूजन के लिए साथ लिया। संघ सांगली, मिरज, बाबानगर, बिजापुर, अक्कलकोट होकर निजाम स्टेट से आगे बढ़ा।

निजाम स्टेट में मुस्लिम शासक होने पर भी संघ के विहार में कोई असुविधा नहीं हुई। बल्कि शासन की ओर से पूर्ण सुरक्षा की जिम्मेदारी निभाई गयी।

इसके बाद संघ नांदेड़, नागपुर, रायपुर होकर राँची पहुँचा। रास्ते में स्थान-स्थान पर प्रवचन, केशलौच आदि कार्यक्रमों से जिनधर्म की महती धर्मप्रभावना हुई।

सांगली, रायपुर, रीवां, कटनी आदि स्थानों के श्रावकों ने आचार्य संघ की वैयावृत्ती का लाभ लिया एवं

श्रेष्ठी श्री घासीलाल जी जौहरी एवं परिवार का भावभीना अभिनन्दन किया। साथ ही शेडवाल अनाथ आश्रम छात्राश्रम के लिए दान राशि भी प्राप्त हुई।

फाल्गुन मास की शुक्ला तीज को संघ ने सम्मेद शिखर तीर्थराज में प्रवेश किया। देशभर से श्रावक भक्त सम्मेद शिखर जी पहुँचे। संघ के साथ यात्रा के लिए दक्षिण भारत में भी समाचार पत्रों के माध्यम से जानकारी प्राप्त हुई तो श्रावकों ने जिन मंदिरों में पूजा उत्सव मनाया। इसी पूण्य भूमि सम्मेद शिखर जी पर पहुँच कर संघ को अवर्णनीय आनन्द प्राप्त हुआ।

संघ के पहुँचने पर संघपति जी की ओर से विशाल जिन बिम्ब पंचकल्याणक प्रतिष्ठा का आयोजन किया गया। फाल्गुन सुदी दशमी के दिन पंच कल्याणक निर्विघ्न सम्पन्न हुआ। इस सम्पूर्ण यात्रा व महोत्सव के निर्विघ्न सम्पन्न होने से संघपतिजी की भावनायें पूर्ण हुई एवं उत्तर भारत के लोगों को अपूर्व धर्म लाभ हुआ। ऐसे चारित्र धर्म के प्रथम युग प्रवर्तक महामना के चरणों में उनकी सल्लेखना के पावन अवसर पर अपनी विनम्र भावांजली अर्पित करता हूँ।

प्रस्तुति - अजीत पाटनी, कोलकाता